نارد بھگتی سوتر ہندی ترجمہ

नारदप्रोक्तं

# भक्तिसूत्रम्

सरलटीकासहितम्

रायबहादुर पंड्या वैजनाथ बी० ए०
इत्यनेन विरचितया हिन्दीटीकया
टिप्पण्यादिभिश्च संवलितम्

तच्च
काश्यां
संस्कृत बुकडिपोऽधिपतिभिः
मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स
इत्येतैः 'महाशक्ति' मुद्रणालये
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम्

प्रथमं संस्करणम् ] १९३३ [ मूल्यं =)

# प्रस्तावना

भक्तिशास्त्र के विषय में पश्चिमीय विद्वानों का एक समय यह मत था कि यह ज्ञान भारतवर्ष के पश्चिमीय किनारे पर बसे हुए ईसाइयों से हिन्दूधर्म में आया। पर शिलालेखों से सिद्ध है कि भागवत्-धर्म यहाँ पर ईसा के बहुत पूर्व से प्रचलित था। घोसुंडी शिलालेख, जो पूर्व में नागरी में था, और अब उदयपुर में है, ईसा के कोई दो सौ वर्ष पूर्व का है। उसमें भगवत् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए शिलाप्राकार का बनाना लिखा है। भेलसा के पास बेसनगर में तक्षशिला के हेलियोडोरस का बनवाया गरुडस्तम्भ भी उसी समय का है। वह भी देवदेव वासुदेव के निमित्त बनाया गया था। नानाघाट में भी ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का लेख है जिसमें सङ्कर्षण और वासुदेव की पूजा का वर्णन है। महाभारत में भी इस एकान्तिक धर्म का वर्णन है। इसमें वासुदेव से प्रकृति पश्चात्, सङ्कर्षण (जीव) की और सङ्कर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और उससे, मन के संसर्ग के कारण, अनिरुद्ध (अहङ्कार) की उत्पत्ति मानी जाती है। यही चार व्यूह अर्थात् ईश्वर के रूपान्तर हैं। अहङ्कार से चढ़कर मनुष्य धीरे-धीरे भक्ति-द्वारा वासुदेव तक पहुँच जाता है। विष्णु में निग्रह और अनुग्रह दो गुण हैं। यह सात्वतों का एकान्तिक-धर्म भगवद्गीता में बताया गया है। इस धर्म को पीछे से पञ्चरात्र नाम भी दिया गया था। मेगस्थिनीज़ के अनुसार भी, यह धर्म इस देश में ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में प्रचलित था, ऐसा माना जाता है।

सनातनधर्म में ऋषभदेव, कपिल, बुद्धादि धर्म और ज्ञान-प्रवर्तक ईश्वर-अवतार माने गये हैं। श्रीकृष्ण-वासुदेव ने भी अपना धर्म चलाया था और इस कारण वे अपने जन्मकाल में युधिष्ठिरराजसूययज्ञ के समय में, अवतार माने जाने लगे थे। पर विष्णुपुराणादि के अनुसार वे विष्णु के शरीर के केवल एक काले बाल के अवतार थे।

यूरोप में भी भक्तों का प्रादुर्भाव समय-समय पर हुआ है और ईसाई-धर्म विशेषतया भक्ति पर ही आश्रित है। वहाँ पर बड़े-बड़े भक्तों ने अपने-अपने अनुभव और अपनी-अपनी जीवनियाँ लिखी हैं जिनसे जीव के विकास का और उस विकास में आनेवाली बाधाओं का पूरा-पूरा हाल जान पड़ता है। इसलिए पश्चिमीय भक्तिशास्त्र का अध्ययन भी जिज्ञासु को उपयोगी होगा। वहाँ पर भक्त की उन्नति के दर्जे श्रीमती एवेलिन अण्डरहिल* (Evelyn Underhill) के अनुसार ये हैं:—

(१) Conversion, or Awakening of the self to Absolute—जीव की ईश्वर के लिए पिपासा। वेदान्त में इसे आत्म-अनात्म-विवेक कहना ठीक होगा। विवेक से वैराग्य होगा। इसके आगे

(२ Purgation; Purification of the Self है। इसमें ईश्वरानुकूल बात जो न हों उन सब का त्याग होता है। यह त्याग, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, आत्मसमर्पण, तपस्या, अहम्भाव या खुदी का त्याग इत्यादि की अवस्था है। इसमें से पार होते बहुत कष्ट होना स्वाभाविक बात है। वेदान्त में इसे शमादि षट्सम्पति का प्राप्त होना कहेंगे। अब

---

*इनके ग्रंथ Mysticism और Practical Mysticism, देखिए। प्रथम में भक्तों के अनुभवों का भी वर्णन है।

( ३ ) Illumination of the Self—है जिसमें ईश्वर का किसी अंश तक अनुभव होता है। ईसाई-भक्त इसे "Betrothal but not marriage of the Soul" कहते हैं। जीवात्मा को परमात्मा के दर्शन तो होते हैं पर उससे एकता नहीं प्राप्त होती। ईश्वर की उपस्थिति का ज्ञान सदैव बना रहता है। इसकी उपस्थिति में पशुओं का जातिवैर मिट जाता है जैसा पतञ्जलि ने कहा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

उसे ऐसे दृश्य दीखते हैं और बोलियाँ सुन पड़ती हैं जो औरों को नहीं दिखातीं या सुन पड़तीं। वह विकसित जीवात्मा अब शान्त हो जाता है। उसे आह्लाद और गाढ़ आनंद (Ecstasy and Rapture) होते हैं। उसको समाधि लग जाती है। पर जीव में अभी कुछ अहम्भाव बाकी है। इसलिए उसे

( ४ ) Dark night of the Soul का अनुभव करना पड़ता है, जब सब साक्षात्कार बन्द हो जाता है और जीव को बहुत दुःख होता है। तब वह ईश्वर साक्षात्कार के आनन्द को त्यागना भी सीखता है। अब जीव अपने ऊपर ही अवलम्बन करना सीखता है। इसके आगे

( ५ ) Unitive Life आता है जिसमें जीव ईश्वर से एक होकर केवल ईश्वर इच्छा से ही क्रियावान होता है और उसके इच्छानुकूल कार्य करता है। यह ब्रह्मवित् का पद जान पड़ता है।

ये दर्जे हर एक भक्त के जीवन में पाये जाते हैं। भक्त को सुख और दुःख दोनों का स्वागत करना चाहिये। दोनों उसके लिए एक-से रहने चाहिये। दोनों ही उसे ईश्वर इच्छा से ही प्राप्त होते हैं।

पश्चिमीय भक्त नवीन जीवन-युक्त रचनात्मक और क्रियावान रहता है। तपस्याकाल में भले ही वह मठ के भीतर एकान्तवास करे परन्तु पीछे से वह जगत्-कल्याणार्थ चेष्टावान होता है। उसका उद्देश्य जगत् को उठाने का रहता है। वह भक्त भी अपने लिए कुछ नहीं माँगता।

मिस अण्डरहिल का कथन है कि जब सभ्यता में कला, बुद्धि और धन की वृद्धि होती है तो उसी समय बड़े-बड़े भक्त भी प्रगट होते हैं; जैसे तेरहवीं सदी में जब बड़े-बड़े गिरजा घर बने और धर्म, कला तत्वज्ञान और नागरिक जीवन का उत्थान हुआ, उस समय बहुतसे भक्त प्रगटे पर उतने नहीं जितने चौदहवीं सदी में। इसी प्रकार सोलहवीं सदी में भी हुआ।

हमारे भारतवर्ष में भक्तों के आने के पश्चात् देश का उत्थान हुआ जान पड़ता है। महाराष्ट्र-भक्तों के पश्चात् शिवाजी हुए, सिक्ख गुरुओं के अन्त में रणजीतसिंह और सिक्ख जाग्रति हुई। इस्लाम धर्म के पश्चात् ही मुस्लिम जाग्रति हुई।

क्या यह नियम सिद्ध न होगा कि धर्म की जाग्रति से चरित्र संगठन होकर देश के सर्व कार्य ऊँची पंक्ति को प्राप्त होते हैं और इस कारण देश उच्च शिखर को प्राप्त होता है?

ईश्वर-प्राप्ति के अनेक उपाय हैं। अपनी-अपनी पूर्वकर्मार्जित रुचि के अनुसार लोगों को अलग-अलग मार्ग सरल जान पड़ते हैं। पर अन्त में सब एक स्थान ही में मिल जाते हैं। कर्म-मार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, प्रकृति-सौंदर्य, पर-सेवा इत्यादि अनेक मार्ग हैं। पर भक्ति सबसे सरल है क्योंकि इसमें किसी सामग्री की, विद्या की, या तैयारी की आवश्यकता नहीं है। निःस्वार्थ-कुटुम्बप्रीति सब थोड़ी बहुत करते हैं या कर सकते हैं। उसका अनुभव सबको थोड़ा-बहुत रहता है। उसी को बढ़ाकर, गाढ़-

भक्ति में परिणत कर, ईश्वर की ओर लगाना सरल है। पर यहाँ भी अनन्यता और सतत प्रयत्न चाहिये। माता का प्रेम सच्चा और बहुत कुछ निःस्वार्थ रहता है, पर भारतीय पुरुषों में निःस्वार्थ प्रेम की मात्रा बहुत कम रहती है। इसलिए उसे बढ़ानी चाहिये। प्रत्येक सद्गुण का मनन करने से और उस पर अमल करने से वह गुण हमारे चरित्र में बढ़ जाता है। इस प्रकार हम अपने में सब सद्गुण बढ़ा सकते हैं।

भक्ति शास्त्र का बहुत सा साहित्य तो लुप्त हो गया है। केवल दो प्रधान छोटे २ ग्रन्थ मिलते हैं, नारद भक्तिसूत्र, और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र। इनमें शाण्डिल्य पुराना जान पड़ता है। पर आज कल का प्रचलित शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ही नारद भक्ति सूत्रकार के समय में प्रचलित था यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। नारद के अनुसार शाण्डिल्य 'अविरुद्ध आत्म रति' को भक्ति कहते हैं ( सूत्र १८ ) पर तीसरे शाण्डिल्य सूत्र से 'ईश्वर में परम अनुरक्ति' या प्रेम को भक्ति बताई है। नारद भी भक्ति को परमप्रेमरूपा कहते हैं। आधुनिक शाण्डिल्य का मत वेदान्त से कुछ भिन्न है। बादरायण व्यास से मतभेद रखते हुए, ( सू. ३० ) वे जीव ईश्वर को भिन्न मानते हुए मन को आत्मा में और ईश्वर में लगाने को कहते हैं (३१वाँ सूत्र)। शाण्डिल्य भगवद्गीता के भक्ति-उपदेश को विशेष विवेचना करते हैं; पर नारद के सूत्र जिज्ञासु को इस शास्त्र का पूर्ण ज्ञान सरल भाषा में देते हुए विशेष लाभदायक मालूम पड़ते हैं। इस छोटीसी पुस्तक को पाठक पढ़कर, भक्ति का सच्चा स्वरूप जानकर, और उसकी सहायता से ऊपर चढ़कर, ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में लग जावें यह उनके लिए इस लेखक की सविनय प्रार्थना है।

पण्ड्या बैजनाथ

# नारदप्रोक्तं

# भक्तिसूत्रम्

---

**अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥**

अब ( हम ) भक्ति की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

**सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥**

यह ( भक्ति ) परमात्मा में परम प्रेमरूपवाली है ॥ २ ॥

टि०—हृदयस्थित ईश्वर में अति गाढ़ प्रेम होना चाहिये।

**अमृत स्वरूपा च ॥ ३ ॥**

और अमृत स्वरूप है अर्थात् अमरत्व या मोक्ष को पहुँचाती है ॥ ३ ॥

**यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥**

इस भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध अर्थात् कृतकृत्य होता है, अमर होता है और तृप्त होता है ॥ ४ ॥

**यत्प्राप्य न किञ्चिद्वांच्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति ॥ ५ ॥**

इस भक्ति को प्राप्त करके फिर उस जिज्ञासु को किसी वस्तु

की इच्छा ही नहीं होती, न उसे उसका शोक होता है, न द्वेष होता है। वह किसी दैहिक या संसार की वस्तु में रमता ही नहीं और न उस विषय में उसे उत्साह ही होता है ॥ ५ ॥

**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥**

जिसे जानकर अर्थात् इस भक्ति का आनन्द भोग कर, वह आनन्द से उन्मत्त होता है, स्तब्ध अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है, और अपनी आत्मा में मग्न हो जाता है ॥ ६ ॥

**सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥**

भक्ति में भगवान को छोड़ कर और किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं करनी पड़ती क्योंकि भक्ति का स्वरूप ही निरोध या त्याग है ॥ ७ ॥

टि०—हरि को छोड़ भक्त और किसी वस्तु की इच्छा ही नहीं करता। भक्ति निष्काम होनी चाहिये। इस प्रेम में भक्त अपने लिये कुछ नहीं माँगता। यह शुद्ध निष्काम प्रेम है। ( कामयमाना—कामना से चलित, स्वार्थमय, कामनायुक्त )।

**निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥**

निरोध लौकिक और वैदिक कर्मों के त्याग को कहते हैं ॥८॥

टि०—कर्म इस लोक और परलोक के सुख के लिए किये जाते हैं पर भक्त को तो भक्ति छोड़ और किसी बात की इच्छा ही नहीं है; फिर वह इन बाधाओं को क्यों रखे ?

**तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥**

उस ईश्वर में अनन्य (=अखंड अव्यभिचारिणी), भक्ति को,

और उसको प्राप्ति में जो विरोध या रुकावट करने वाली वस्तुएँ हैं उनमें उदासीनता को भी निरोध कहते हैं ॥ ९ ॥

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥१०॥

ईश्वर को छोड़ अन्य आश्रयों के त्याग को अनन्यता कहते हैं ॥१०॥

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥११॥

लौकिक और वैदिक कर्मों में ईश्वरप्राप्ति के अनुकूल कर्मों का पालन करना चाहिये और जो उसमें विरोध करें उनमें उदासीन भाव रखना चहिये ॥११॥

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

अन्यथा पातित्याशङ्का ॥ १३ ॥

इन लौकिक और वैदिक कर्मों को दृढ़ निश्चय होने के बाद भी न छोड़ना चाहिये। शास्त्र की आज्ञा का पालन करना चाहिये ॥१२॥ नहीं तो गिर पड़ने की सम्भावना होगी ॥१३॥

टि०—मिथ्या वैराग्य भी न हो नहीं तो विषयों को ऊपर से छोड़ कर मनसे चाहते रहने से उनका प्रभाव बढ़ेगा और जिज्ञासु को वे नीचे खींच ले जावेंगे। परमात्मा की प्राप्ति यही नरदेह का परम साध्य ध्येय है ऐसा दृढ़ निश्चय होने तक और भक्ति दृढ़ होने तक और उसके पश्चात् भी शास्त्र की आज्ञा पालन करे। "दार्ढ्यादूर्ध्वं" का अर्थ 'दृढ़ निश्चय पश्चात्' का होता है पर इस ग्रंथ के सूत्र ८-११-१४-४७-४८-४९ से ग्रन्थकार का अर्थ 'भक्ति मार्ग में दृढ़ स्थिति होने तक ही शास्त्र की आवश्यकता' का जान पड़ता है।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा-
शरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

उसी प्रकार लौकिक कर्मों को भी तब ही तक पालन करे; पर भोजनादि कर्म शरीर रहते तक करता रहे ॥१४॥

## भक्ति के लक्षण

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

अब नाना मतों के अनुसार उस भक्ति के लक्षण कहते हैं। १५।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम-
व्याकुलतेति ॥ १९ ॥

अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥

व्यास के मतानुसार 'पूजादि में गाढ़ प्रेम होना' यही भक्ति है ॥ १६ ॥

'गुण-कीर्तन आदि कहने सुनने में गाढ़ प्रेम होना' यह भक्ति का लक्षण गर्ग के मतानुसार है ॥ १७ ॥

शाण्डिल्य के मतानुसार 'अखण्ड ( अविच्छिन्न ) आत्मरति या आत्मा में लीन होना' ही भक्ति का लक्षण है ॥ १८ ॥

पर नारद के मतानुसार सर्व कर्मों को ईश्वर को अर्पण कर देना और उसके थोड़े भी विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना यही भक्ति है ॥ १९ ॥

और यही ठीक है ॥ २० ॥

टि०—शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र में भक्ति की परिभाषा में लिखा है कि वह ईश्वर में परम अनुरक्ति या प्रेम है। (सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥)

**यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥**

**तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२॥**

**तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥**

जैसे व्रजगोपियों की भक्ति ॥ २१ ॥

उनका निस्सीम-प्रेम सच्ची भक्ति का उत्तम उदाहरण है। उस गोपियों के प्रेम में कोई ऐसा अपवाद या दोष नहीं लगा सकता कि श्रीकृष्ण के माहात्म्य को, उनके ईश्वर अवतार होने को, वे गोपियाँ पलभर के लिए भी कभी भूल जाती थीं ॥ २२ ॥

यदि श्रीकृष्ण के परमात्मा होने का ज्ञान उनकी भक्ति में न होता तो वह प्रेम जारप्रेम सरीखा हो जाता ॥ २३ ॥

**नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥**

इस जार प्रेम में केवल प्रियतम के सुख में सुखी होने का गुण नहीं रहता ॥२४॥

टि०—जार प्रेम में स्वार्थता और अपना सुख प्रधान लक्षण हैं। सच्चे प्रेम में केवल आत्म-समर्पण रहता है और उसके बदले में कुछ नहीं चाहा जाता।

## भक्ति-साधन विचार

**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥**

कर्म, ज्ञान और योग इन तीनों मार्गों से भी श्रेष्ठ, भक्ति मार्ग है ॥२५॥

फलरूपत्वात् ॥२६॥

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ॥२७॥

क्योंकि भक्ति स्वयं फलरूप है। कर्म, ज्ञान, योग तो अपने अपने फल के लिए किये जाते हैं। भक्ति में और कोई फल की इच्छा नहीं की जाती ॥२६॥ ईश्वर को भी अभिमान का द्वेष है और दीनता प्रिय है ॥२७॥

टि०—वास्तव में ईश्वर में द्वेष भाव हो ही नहीं सकता पर अभिमानी जीव ही अपने अभिमान के कारण ईश्वर से दूर रहता है। कर्मादि मार्गों में अभिमान आना सम्भव है पर भक्त ईश्वर का दीन दास ही बनता है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥२८॥

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥२९॥

स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः ॥३०॥

ज्ञान ही भक्ति का साधन है ऐसा कोई कहते हैं ॥२८॥ ज्ञान और भक्ति परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं ऐसा दूसरे कहते हैं ॥२९॥ पर ब्रह्मकुमार नारद का कहना है कि भक्ति स्वयं फल-रूपिणी है जैसा २६ वें सूत्र में समझाया है ॥३०॥

टि०—अकेले ज्ञान से द्वेष भी हो सकता है। ज्ञान के बाद अनुभव का आनन्द आना चाहिये। वह भक्ति से ही मिल सकता है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥३१॥

न तेन राजपरितोषः क्षुच्छान्तिर्वा ॥३२॥

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥३३॥

राजगृह वा भोजनादि स्थान में भी ऐसा ही देखने में आता है ॥३१॥ राजमहल को केवल देख लेने से राजा की प्रसन्नता होती नहीं, न भोजन की तैयारी देखने से क्षुधा की शान्ति होती है ॥३२॥ इसलिए संसार को तरने की इच्छा करनेवाले मुमुक्षु को भक्ति का ही मार्ग ग्रहण करना चाहिये ॥३३॥

टि०—शास्त्र से ज्ञान मिलेगा पर अनुभव बिना यह ज्ञान किस काम का ? राजमहल का वर्णन सुन कर काम नहीं चलता। महल में जाकर रहने से अथवा राजा का परिचय कर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करने से आनन्द आता है वैसे ही ईश्वर का सूखा ज्ञान काम नहीं देता उसकी कृपा मिलनी चाहिये। वही हाल भोजन का है। क्षुधा की शान्ति भोजन के ज्ञान से नहीं होती, खाने से होती है। वैसे ही सूखा ब्रह्म ज्ञान काम नहीं देता; भक्ति द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार का आनन्द मिलना चाहिये।

**तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥३४॥**

आचार्य लोग भक्ति के साधनों का वर्णन करते हैं ॥३४॥

**तत्तु विषयत्यागात्संगत्यागाच्च ॥३५॥**

**अव्यावृतभजनात् ॥३६॥**

**लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥३७॥**

विषय त्याग और सङ्ग त्याग से भक्ति आती है ॥ ३५ ॥ अखण्ड भजन से भी भक्ति आती है ॥३६॥ लोक समाज में भी भगवद् गुण श्रवण कीर्तन करने से भक्ति आती है ॥३७॥

टि०—भागवत् में कहा गया है कि विषय का ध्यान करने से चित्त विषयों में जाता है और मेरा अनुसरण करने से चित्त मुझमें लीन होता है ! जिस काम में चित्त लगाओ उसी का प्रेम बढ़ता है। इसलिए अखण्ड भजन और चार मनुष्यों के बीच में बैठने पर भी भगवद् गुण श्रवण कीर्त्तन करते रहना चाहिये।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥३८॥
महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९॥
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥४०॥
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

पर मुख्य करके महात्माओं की कृपा से और ईश्वर की लेश कृपा मात्र से भक्ति की प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥ महात्माओं का सङ्ग दुर्लभ है, मिलता नहीं; पर मिल जावे तो वह बेकाम जाता नहीं ॥३९॥

टि०--जैसे दत्तात्रेय के पास से निकल जाने के कारण वेश्या का मन अपनी वृत्तिसे उठकर ईश्वर भक्ति में लग गया।

"बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिन सुलभ न सोई॥"

इस प्रकार सच्चा सतसङ्ग भी ईश्वर की कृपा से ही मिलता है ॥४०॥ क्योंकि सन्त और भगवान में भेद नहीं है ॥४१॥

टि०—सच्चे पूर्ण सन्तों में अहम्भाव का पूर्ण नाश हो जाने के कारण वे केवल ईश्वर इच्छा से प्रेरित हो कर विचरते हैं और अपना कार्य करते हैं।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥
इसलिए ( भक्ति प्रेम द्वारा ) ईश्वर कृपा को ही प्राप्त करो।

## दुःसंग

दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः ॥४३॥
काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाशकारणत्वात्४४
तरङ्गयिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥४५॥
दुष्ट सङ्गति का सदैव ही त्याग करना चाहिये ॥४३॥ क्योंकि

दुष्ट सङ्गति के कारण क्रोध, मोह, स्मृति भ्रंश ( ज्ञाननाश ) बुद्धिनाश एक के बाद एक आकर अन्त में सर्वनाश कर डालते हैं ॥४४॥

टि०—दुष्ट सङ्गति से विषयों में मन जाता है और उस कारण क्रोधादि उत्पन्न हो सर्वनाश कर डालते हैं। गीता में कहा है कि सङ्ग से काम और काम से क्रोधादि वैरी उत्पन्न होते हैं।

आरम्भ में भक्त में क्रोधादि छोटी लहरों के समान बल हीन होवें पर दुष्ट सङ्गति से वे भयङ्कर समुद्र के समान भयानक हो जाते हैं ॥४५॥

## माया से कौन तरता है ?

**कस्तरति कस्तरति मायां ? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥४६॥**

**यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, यो योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥**

**यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यसति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥४८॥**

**यो वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥४९॥**

**स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥५०॥**

( प्रश्न ) दुस्तर माया से कौन तर जाता है ? कौन तर जाता है ?

( उत्तर ) जो सब सङ्गों का परित्याग करता है, जो सच्चे

सन्त महात्माओं की सेवा करता है, जो ममता रहित होता है ॥४६॥

टि०—"यदा नाहं तदा मोक्षो", अहंभाव के नाश होने से ही मोक्ष होता है।

जो एकान्त का सेवन करता है और लौकिक बन्धनों को तोड़ डालता है जो तीनों गुणों के परे जाकर योग क्षेम (वस्तुओं का संग्रह और रक्षा, समृद्धि) की भी चिन्ता छोड़ देता है ॥४७॥

जो कर्म फल और कर्मों का त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाता है ॥४८॥ जो वेदों का भी सन्यास कर केवल और अखण्ड परिपूर्ण भगवत्प्रेम का लाभ कर लेता है ॥४९॥ वह स्वयं तर जाता है और और लोकों को भी तारता है ॥५०॥

टि०—इस प्रकार भक्त एकान्तसेवी हो सब बाधाओं को त्याग कर अपने एक ईश्वर में लगता है; जैसा कि भगवद्गीता में कहा है कि "सब धर्मों को त्याग कर मेरी अकेली शरण पकड़ो"। गीता में वेदों को "त्रिगुणविषयक" कहा है।

## पराभक्ति और गौणभक्ति

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥५१॥

मूकास्वादनवत् ॥५२॥

प्रकाश्यते क्वापि पात्रे ॥५३॥

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है अर्थात् उसका वर्णन नहीं हो सकता ॥५१॥ जैसे मूक (गूँगा) को गुड़ खिलाने से वह उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता ॥५२॥ वैसे ही इस प्रेम

का वर्णन नहीं हो सकता। यह प्रेम कोई विरले योग्यपात्र शुद्ध प्रेमी भक्त में ही प्रगट होता है ॥५३॥

**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥५४॥**

यह प्रेम तीन गुणों के परे है; इसमें कोई कामना का स्पर्श नहीं होता; प्रतिक्षण यह प्रेम बढ़ता रहता है; इसका अटूट प्रवाह जारी रहता है; यह अति सूक्ष्म और केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है ॥५४॥

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव चिन्तयति ॥५५॥**

वह उस प्रेम को प्राप्त होकर उसी को देखता है, उसी को सुनता है और उसी का चिन्तन करता है ॥ ५५ ॥

टि०—उसको उस ईश्वर प्रेम के सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं है, न और कोई बात उसे सुन पड़े। उसी का ध्यान उसे बना रहता है। वह उस प्रेम में अन्तर बाहर इस प्रकार मग्न हो जाता है।

इस प्रकार यहाँ तक परा भक्ति का वर्णन हुआ अब आगे गौणी भक्ति का वर्णन करते हैं—

**गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥५६॥**

गौणी ( मध्यम या सकाम ) भक्ति गुण भेद के कारण और आर्तादि भेद के कारण तीन प्रकार की होती है ॥५६॥

टि०—गुण भेद से वह सात्विकी, राजसी और तामसी होती है और गीता के सातवें अध्याय में बताये अनुसार आर्त्त अर्थात् दुःखी, जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान की इच्छावाला और अर्थार्थी अर्थात् धन की इच्छावाला इन तीनों की

तीन प्रकार की भक्ति होती है। ज्ञानी की भक्ति इनसबसे श्रेष्ठ होती है। न होने से गौणी भक्ति भी अच्छी है। सकाम भक्ति भी आगे चलकर निष्काम हो जाती है। जैसे ध्रुव ने सकाम भक्ति आरम्भ की पर दर्शन मिलने पर वह निष्काम हो गया।

**उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्व श्रेयाय भवति ॥५७॥**

**इन तीन तीन भेदों में पीछे पीछे वाली से आगे आगे वाली विशेष कल्याणकारी होती है ॥५७॥**

टि०—जैसे तामसी से राजसी और राजसी से सात्विकी अच्छी होती है इसी प्रकार धन कामना वाले (अर्थार्थी) की भक्ति से जिज्ञासु की और इन दोनों की अपेक्षा आर्त्त (बीमार या दुःखी) की भक्ति विशेष अच्छी होती है। जितना भारी दुःख होगा उतनी ही गम्भीरता, दीनता और आग्रह से वह दुःखी भक्ति करेगा।

## भक्ति की सुलभता

**अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥५८॥**

**प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥५६॥**

**शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥६०॥**

**ज्ञान, कर्म, योगादि और मार्गों की अपेक्षा भक्ति माग सरल है ॥५८॥**

टि०—स्वामी रामदास का भी कहना है कि भक्ति मार्ग ग्रहण करना चाहिये क्योंकि उस मार्ग से हरि सरलता से मिल जाते हैं।

**भक्ति मार्ग सरल होने का कारण यह है कि यह भक्ति स्वयं प्रमाण है और इसे कोई दूसरे बाहर के प्रमाण की आव-**

श्यकता नहीं है ॥५९॥ दूसरा कारण और यह है कि यह स्वयं शांति रूप और परमानन्द रूप है ॥६०॥

टि०—किसी अवस्था में, किसी आश्रम में, स्त्री, पुरुष, बालक, और सब जाति वाले, ईश्वर की शुद्ध भक्ति कर सकते हैं। उसमें कोई सामग्री न चाहिये। शुद्ध निष्काम प्रेम का थोड़ा बहुत अनुभव सबको कुटुम्ब प्रीति में आ जाता है और उसे बढ़ाकर हरि में लगाना कठिन नहीं है। भक्ति-सुख का अनुभव होने से वह स्वयं प्रमाण हो जाता है। उससे शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

## साधक को क्या साधना चाहिये ?

**लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥ ६१ ॥**

**न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ॥ ६२ ॥**

लोकहानि में, लौकिक-कर्म ठीक न सधने में चिन्ता न करना चाहिये क्योंकि उसने अपने-आप को और लौकिक और वैदिक सब प्रकार के कर्मों को भगवान के समर्पण कर दिया है ।।६१॥

जब तक उस भक्ति में सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है तब तक लोक व्यवहार का त्याग न करना चाहिये। पर फल-त्याग कर (निष्काम होकर) कर्म करते रहना चाहिये ॥६२॥

टि०—यहाँ "तत्सिद्धौ" पाठान्तर भी है। उसका अर्थ यह होगा कि भक्ति की सिद्धि हो जाने पर लौकिक-व्यवहार न छोड़कर पर उसका फल त्याग कर उसे निष्काम भाव से करना चाहिये। पर ११, १४, ४७, ४९ सूत्रों के विचार से "तदसिद्धौ" पाठ ठीक जान पड़ता है।

स्त्री-धन-नास्तिकचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ ६३ ॥

अभिमान-दम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ६५ ॥

स्त्री, धन और नास्तिकों के विषय की बातें कभी न सुनना चाहिए ॥ ६३ ॥

टि०—क्योंकि साधक का चित्त इन बातों को सुनकर अपने मार्ग से हट जा सकता है।

अभिमान और दम्भ इत्यादि दुर्गुणों को त्यागना चाहिये ॥६४॥ अपनी सर्व बातें, अपने सर्व कर्म ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं इस कारण काम, क्रोध, अभिमानादि यदि चित्त में आवें तो उन्हें भी ईश्वर की ओर लगाना चाहिये। अर्थात् क्रोध ईश्वर प्रति भेजना और अभिमान उसी का करना चाहिये ॥ ६५ ॥

टि०—इन सूत्रों से गन्दे नाटक उपन्यासादिकों का भी निषेध समझना चाहिये। अपने पुण्यकर्म छिपाने का प्रयत्न करना चाहिये। उनका अभिमान न करना चाहिये। दम्भ मिथ्या अभिमान को कहते हैं। काम, क्रोध अभिमान का यदि नाश नहीं हो पाया है तो कामना और अभिमान ईश्वर का ही करना चाहिये और क्रोध भी उसी की ओर भेजना चाहिये।

## भक्त-गौरव

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेमकार्यं प्रेमैव कार्यम् ॥ ६६ ॥

उपास्य ईश्वर, भक्त और भक्ति इस त्रिपुटि या त्रिरूप को मिटाकर या लय करके नित्य दास्य-भक्ति से (जैसे हनुमान की)

या नित्य कान्ता-भक्ति से ( जैसे लक्ष्मी की ) प्रेम करना चाहिये। ॥ ६६ ॥

टि०—इस अवस्था में अहम्भाव को मिटाकर और ईश्वर को अलग न समझ कर दास्यभाव से या कान्ताभाव से उसमें लीन हो जाना चाहिये। गीता में "प्रियः प्रियायार्हसि देव! सोढुम्" ( अ० ११ श्लो० ४४ में ) कहा है।

**भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥**

**कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथ्वीं च ॥ ६८ ॥**

सर्व भक्तों में एकनिष्ठ अनन्य भक्त ही मुख्य होते हैं। उनका यह एक ही जीवन-लक्ष्य रहता है ॥ ६७ ॥

ऐसे भक्त आपस में ईश्वर गुणानुवाद करते हुए, प्रेम से कण्ठावरोध रोमाञ्च और आँसू-युक्त हो, दोनों ओर के कुलों को पवित्र करते हैं। इतना ही नहीं, वे सारी पृथ्वी को पवित्र करते हैं ॥ ६८ ॥

**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थाणि, सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥**

**यतस्तन्मयाः ॥ ७० ॥**

ऐसे ही भक्तों से तीर्थों में तीर्थत्व आता है। वे ही कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सच्छास्त्र बनाते हैं ॥ ६९ ॥

क्योंकि वे स्वयं ईश्वरमय हो गये हैं ॥ ७० ॥

टि०—उनके कर्म जग को आदरणीय सत्कर्म जंचने लगते हैं। जिस शास्त्र को वे हाथ में लेते हैं वह सत् शास्त्र हो जाता है। सूत्र ७० को सूत्र ७३ से मिलना चाहिये।

**मोदन्ते पितरो, नृत्यन्ति देवताः, सनाथा चेयं भूमिर्भवति ॥७१॥**

ऐसे भक्त के कृत-कृत्य होने से पितरों को आनन्द होता है; देवता लोग आनन्द से नाचते हैं और पृथ्वी अपने को सनाथ मानने लगती है ॥७१॥

टि०—क्योंकि ऐसे सन्तों से जगत् का बहुत कल्याण होता है और ईश्वर कार्य बहुत सधता है जिसके साधने में देवगण निरन्तर लगे हुए हैं।

**नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि भेदः ॥७२॥**

**यतस्तदीया ॥७३॥**

ऐसे भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि के कारण कोई भेद नहीं रहता ॥७२॥

टि०—उनको सब समान हैं। उन्हें सर्वत्र ईश्वर दिखता है पापी; पुण्यात्मा; ब्राह्मण, चाण्डाल, मूर्ख, पण्डित आदि सब उन्हें समान हैं।

क्योंकि ये भक्त तो उनके अर्थात् ईश्वर रूप हो गये ॥७३॥

टि०—इनमें अहम्भाव का पूर्ण नाश होकर, ये केवल ईश्वर इच्छा से प्रेरित हो, बाह्य कार्य करते हैं।

## वाद विवाद नहीं

**वादो नावलम्ब्यः ॥७४॥**

**बाहुल्यावकाशत्वादनियतत्वाच्च ॥७५॥**

वादविवाद न करना चाहिये ॥७४॥

टि०—जिज्ञासु को ज्ञान का उपदेश करना जुदी बात है पर वाद विवाद करने से किसी को निश्चय नहीं होता, शान्ति भङ्ग होती है और ईर्ष्या द्वेष वैरादि की सम्भावना होती है। वाद के निषेध करने का कारण यह है कि वाद की कोई हद नहीं है और न कोई उसका नियम या निश्चय है।

वाद में बाहुल्यावकाश है दोनों पक्षों को बहुत बोलने के लिए बहुत सी गुंजायश रहती है। नियम का बन्धन भी नहीं रहता ॥७५॥

**भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माणि करणीयानि ॥७६॥**

इस भक्ति के प्राप्ति के लिए भक्ति शास्त्र का मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म करना चाहिये जिससे चित्त में भक्ति की वृद्धि होवे ॥७६॥

**सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥७७॥**

सुख, दुःख, इच्छा, लाभ इत्यादि का पूर्ण त्याग हो जाय ऐसे काल की बाट देखता हुआ आधा क्षण भी व्यर्थ न (बिना भक्ति के) बीतने न देवे ॥७७॥

**अहिंसा-सत्य-शौच-दयाऽऽस्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥७८॥**

अहिंसा (करी, करवाई, और अनुमोदन की हुई हिंसा का त्याग करना और सर्व जीवों के कल्याण में लगे रहना)

सत्य, शौच ( पवित्रता ), दया, आस्तिक्य आदि उत्तम और आचरणीय गुणों का पालन करते रहना चाहिये ॥७८॥

टि०—सत्य के विषय में मनुजी का कहना है कि सत्य और प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, न प्रिय और असत्य भी न बोले। गीता में कहा है कि अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोले।

**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैर्भगवानेव भजनीयः ॥७९॥**

सर्वदा सर्व भाव से अर्थात् चित्त एकाग्र कर और किसी दूसरी बात की चिन्ता न करता हुआ, निश्चिन्त हो, भगवान का ही भजन चिन्तन करे ॥७९॥

**स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥८०॥**

उसके कीर्तन में पूर्ण प्रेम जमने से वह शीघ्र ही प्रगट होता है और भक्तों को अपना अनुभव कराता है ॥८०॥

टि०—सर्व प्रकार की चिन्ता छोड़ सर्वकाल सर्व भाव से भगवान का चिन्तन करने से और तन्मय हो जाने से भगवान् साक्षात् प्रकट होकर भक्तों को अनुभव देते हैं। अविर्भाव का अर्थ सगुण रूप से प्रगट होने का है।

**त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥८१॥**

वर्तमान, भूत भविष्य, इन तीनों कालों में भक्ति श्रेष्ठ है। त्रिसत्य कायिक वाचिक और मानसिक सत्य को कहते हैं। यहाँ पर तीनों कालों का अर्थ है ॥८१॥

## भक्ति के ग्यारह प्रकार

**गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति. वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥८२॥**

यह भक्ति एक रूप होकर ग्यारह प्रकार की होती है। ईश्वर के गुण माहात्म्य में प्रेम, उस की सुन्दरता में प्रेम, उस के स्मरण में प्रेम, उस की सेवा में प्रेम, अर्थात् दास भाव से या मित्र भाव से या उस की कान्ता भाव से उस में प्रेम, वत्सल या पुत्र भाव से उसमें प्रेम, आत्मनिवेदन वा आत्मसमर्पण करके उस में प्रेम, तन्मय होकर उस में प्रेम, उस से परम विरह मान उसका ध्यान, इस प्रकार एक भक्ति ग्यारह प्रकार की होती है ॥८३॥

**इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमार-व्यास-शुक-शाण्डिल्य-गर्ग-विष्णु-कौण्डिन्य-शेषोद्धव-आरुणि-बलि-हनुमद्विभीषणादयो भक्ताचार्याः ॥८३॥**

कुमार, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति शास्त्र के आचार्य एकमत होकर और लोगों की निन्दा स्तुति की परवाह न कर भक्ति शास्त्र का इस प्रकार वर्णन करते हैं ॥८३॥

टि०—यह भक्ति आचार्यों की गुरु परम्परा है। कुमार से भगवान् सनत्कुमार का अर्थ है।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसति, श्रद्धत्ते स भक्तिमान् भवति स प्रेष्ठं लभत इति ॥८४॥

जो शिव द्वारा प्रथम बताये और नारद द्वारा कहे गये इस ( भक्ति शास्त्र ) का विश्वास करता है और उसमें श्रद्धा रखता है वह भक्तिमान होकर प्रेष्ठ ( ईश्वर ) को प्राप्त होता है ॥८४॥

टि०—भागवत धर्मीय वैष्णवों के आद्यगुरु श्रीशंकर हैं। आद्य भक्त और आद्य वैष्णव भी वे ही हैं। शिवानुशासन का अर्थ कल्याणकारी उपदेश भी हो सकता है। शिव उपदेश की परम्परा ही ठीक अर्थ जँच पड़ता है।

इति कृष्णार्पणमस्तु।

# विक्रयपुस्तकानि